

समकालीन सृजन की ओर

ISSN-2277-4084

अंक: 11, वर्ष : 5

अर्य सन्देश

बिहार और झारखण्ड मूल की स्त्री कथाकार



इस अंक में ...

वंदना राग
कविता
पंखुरी सिन्हा
प्रत्यक्षा
जयश्री रॉय
गीताश्री
पूनम सिंह
प्रभात रंजन
आशा गहलोत
सौरभ शेखर
आशुतोष मिश्र
मनोज पाण्डेय
आदित्य विक्रम सिंह
राजीव कुमार
अमृता ठाकुर
संतोष कुमार तिवारी
गौतम राजरिशी

सहयोग: 50/-

अनुक्रमणिका

अर्य सन्देश-11

1. अतिथि सम्पादकीय

जड़ों से दूर, जड़ों के पास..... / राकेश बिहारी 5

2. हाजरी के हस्ताक्षर

येन गतः स न पन्था 7

3. कहानी

कायांतर / जयश्री राय
दो ढाई किस्से / वन्दना राग
काले कोस, अन्धेरी रातें / कविता
आवाजों के पीछे / गीताश्री
बासी फूल / प्रत्यक्षा
जिन् और बाकी की रूहें / पंखुरी सिन्हा

4. बातचीत / सौरभ शेखर से

..... 45

कविता / कहानी भाषा और शिल्प की जुगलबंदी भर नहीं.....
पंखुरी सिन्हा / किले बनवाकर औरत को मुक्त नहीं किया जा सकता.....
जयश्री रॉय / जीवन के यथार्थ फिक्शन से भी अधिक नाटकीय.....
गीताश्री / मैं अराजक स्त्रियों के पक्ष में नहीं.....
प्रत्यक्षा / पाठकों की संख्या मेरा एम्बीशन नहीं.....
वन्दना राग / पिक्चर अभी बाकी है मेरे दोस्त.....

5. परस्पर

..... 75

संघर्ष की साझी भाषा / वन्दना राग
हर कहानी पर दम निकले / गीताश्री
समय और भूगोल के परिचित वृत्त से बाहर / कविता
एक रचनाकार पाठक के नोट्स / जयश्री रॉय
निरंतर नयी आवाज / पंखुरी सिन्हा
अपने समय से मुखातिव कहानियाँ / प्रत्यक्षा

6. मूल्यांकन : एकाग्र

..... 97

मतलब नहीं कुछ इससे कि मतलब..... / मनोज पाण्डेय
वस्तु से विषय होती स्त्री का..... / आशुतोष
विषय की विविधता और..... / राजीव कुमार
पात्र और परिस्थितियों के साथ..... / आशा गहलोत
आधुनिकता के विद्रूप की समझ / आदित्य विक्रम सिंह
स्त्री सरोकार की परिधि / अमृता ठाकुर

7. मूल्यांकन समग्र

..... 129

आत्मपरक दृष्टि और वस्तुपरक यथार्थ / पूनम सिंह
छूटते हुए को जोड़ती कहानियाँ / प्रभात रंजन
ये इश्क नहीं आसां / संतोष कुमार तिवारी
छः इन्द्रियाँ प्रेम की / गौतम राजरिशी

8. समग्र से बाहर

..... 151

नागार्जुन के उपन्यासों में भाषिक संरचना
/ डॉ० चन्दन कुमार सिंह
साठोत्तरी हिन्दी नाटकों के पौराणिक मूलभूत आधार तत्व
/ वंकेश्वर नाथ
नक्शली कौन - अमानवीय दुस्साहसों के विरुद्ध जरूरी
पहल / राधे लाल विजधावने

भूल-सुधार

तकनीकी गड़बड़ी से अंक में रु, फ़, मू, क, ब, ट, ए आदि की
जगह 'जू' अंकित हो गया है। - यथासुविधा सुधारकर पढ़ें।

जैसे-

ज़्याल - ख्याल / मुज़्त - मुफ्त
ज़्यज़ित - व्यक्ति, / ज़्यासा - प्यासा
पिज़्चर - पिक्चर, / एज़्बीशन - एम्बीशन
आदि

मूल्यांकन: एकाग्र

सन्दर्भ : कविता की कहानियां

वस्तु से विषय होती स्त्री का आत्मसंघर्ष

आशुतोष



यह कहानी की केन्द्रीयता का समय है। इन दिनों 'युवा कहानी' या 'युवा कथा आन्दोलन' के नाम से एक नई तेजी और सक्रियता हिन्दी कहानी में दिखाई दे रही है। इसमें युवा कौन है? कहानी या कहानीकार? यह जानने की अलग-अलग लोगों की अलग-अलग प्रविधि हो सकती है। इस समय यह भी देखा जा सकता है कि कई पीढ़ियों के लोग एक साथ बहुत कुछ सार्थक लिख रहे हैं। ऐसे में मैं यह मानकर चल रहा हूँ कि 'युवा' कहानी ही है।

हिन्दी कहानी के इस युवापन के निर्माण में अनेक कहानीकार सक्रिय हैं। इन सबमें एक खास स्वर और उपस्थिति कविता की है। कविता के अब तक तीन कहानी संग्रह 'मेरी नाप के कपड़े' (2006) भारतीय ज्ञानपीठ, 'उलटबांसी' (2009) भारतीय ज्ञानपीठ और 'नदी जो अब भी बहती है' (2011) सामयिक प्रकाशन से प्रकाशित हो चुके हैं। इन संग्रहों के अलावा कई अन्य कहानियां और भी हैं जो समय-समय पर विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित और प्रशंसित होती रही हैं। कविता का लिखना सिर्फ लेखन की दुनिया में दर्ज होने का शौक भर नहीं है बल्कि उनका लिखना 'खुद' को खोजने-पाने की प्रक्रिया है। उनके 'खुद' में एक नई स्त्री की अस्मिता, स्वायत्तता और अस्तित्व शामिल हैं। रिचर्ड होगर्ट कहते हैं, 'महान कलाकार सम्पूर्ण मानव का गहराई से चित्रण करता है।' कविता के लेखन को देखा जाए तो वे अपनी कहानियों में समूची स्त्री जाति और समाज का विश्वसनीय चित्रण करती हैं। कथा विषयों और प्रसंगों की विविधता उनके गहरे जीवनानुभवों से उपजा है। कविता अपनी कहानियों को लेकर किसी भी लोकप्रिय 'पैटर्न' को स्वीकार नहीं करतीं वरन अपनी संरचना और कथ्य में स्त्री-प्रश्नों के एक नई भाव-भूमि की खोज करती हैं। आम तौर पर स्त्रीवादी लेखन में स्त्री प्रश्नों पर लिखते समय 'लाउड' होने की काफी गुंजाइश होती है। इस 'लाउडनेस' की आधार सामग्री खुद पश्चिमी स्त्री विमर्श में मौजूद है। जब यह कहा जा रहा है तो उस 'लाउडनेस' को अस्वीकार नहीं किया जा रहा है बल्कि किसी भी हाशिये के विमर्श में 'लाउडनेस' एक अनिवार्य चरण होता है और इसकी अपनी एक ऐतिहासिक जरूरत भी होती है। किन्तु विमर्श का अपने संकल्पों और वास्तविक निहितार्थों तक पहुंचने के लिए उस 'लाउडनेस' से आगे बढ़ना आवश्यक होता है। इसके अभाव में समूचा विमर्श चित्कार-फुत्कार में उलझ कर रह जाता है और विमर्श के भटकने का खतरा बना रहता है। कविता की कहानियों में यह 'लाउडनेस' नहीं है। इसे समझने के लिए और उनकी कहानियों पर व्यवस्थित ढंग से बात करने से पहले जरूरी है कि बहुत संक्षेप में स्त्री-विमर्श की इस प्रत्याशित 'लाउडनेस' की पड़ताल कर ली जाय। किसी भी विमर्श की विकास प्रक्रिया में तीन चरण स्वभावतः आते हैं, पहला-अनुकरण, दूसरा-प्रतिक्रिया और तीसरा-आत्मनिर्भरता। स्त्रीवादी विमर्श में वर्जीनिया वुल्फ का लेखन-समय (1920-1949) पहला, सीमोन द बोउआर का लेखन-समय (1950-1975) दूसरा और पेट्रिशिया मेयर स्पेज्स की किताब 'द फीमेल इमेजिनेशन' (1975) के बाद के स्त्रीवादी लेखन-समय (1979 से अब तक) को आमतौर पर तीसरा दौर माना जाता है। जिस 'लाउडनेस' की चर्चा ऊपर की गयी है वह दूसरे दौर मुख्यतः सीमोन द बोउआर के लेखन से जुड़ा हुआ है। इन चरणों को पारिभाषिक पदावली में क्रमशः फेमीनीन कालखंड, फेमीनिस्ट कालखंड और फीमेल गाइनोसैंट्रिक कालखंड भी कहा जाता है। पहला चरण वर्जीनिया वुल्फ की किताब (1929) में स्त्रीवादी तर्क का मूल विद्यमान है। बहुत सारी जरूरी बातों के आधार पर वुल्फ स्त्री जीवन की दुखद स्थितियों की पहचान करती हैं। किन्तु वुल्फ के स्वर में कहीं भी चुनौती नहीं थी। स्त्रियों की अभिव्यक्ति और स्थितियों में बदलाव के लिए उन्होंने जो कुछ उपाय बताया वो सब कुछ स्त्रियोचित था। वे आमूलचूल परिवर्तन के लिए कोई क्रान्तिकारी कदम उठाने की बात नहीं कहती हैं। इसलिए जेन माजर्स ने वुल्फ पर व्यंग्य करते हुए उन्हें 'गोरिल्ला फाइटर इन पेटीकोट' कहा था। स्त्री विमर्श का दूसरा चरण प्रतिक्रियावादी था। सीमोन दि बोउआर के 'इक्वेलिटी ऑफ सेक्स' के सिद्धान्त पर निर्मित यह कालखंड दुनिया भर में बहुत लोकप्रिय हुआ। अमेरिका, फ्रांस तथा अन्य पश्चिमी देशों में नारी जागरण के इस आक्रोशग्रस्त कालखंड ने उन्हें विश्व भर में एक अलग पहचान दिया। सीमोन ने अपनी किताब में वुल्फ और फ्रायड के सिद्धान्तों को निरस्त करते हुए 'इक्वेलिटी

ऑफ सेज्सेस' के सिद्धान्त के साथ स्त्री-पुरुष दोनों को समान धरातल पर स्थापित करके स्त्री को अपना स्थान दिलाने और अपने हक के लिए जूझने का दौर आरंभ किया। इस दौर ने स्त्री को पददलित वाली छवि और अपनी पूज्य शालीनता की सीमा से बाहर निकालकर उसके आक्रोश को ही प्रमुख स्वर के रूप में प्रस्तुत किया। बंधन के 'मेटाफर' जैसे अंतर्वस्त्रों को त्यागने के साथ ही सामाजिक बंधनों के रूपकों जैसे पत्नीत्व और मातृत्व की भूमिका की अवहेलना करते हुए अपने व्यक्ति होने के हक को प्रस्थापित करने का प्रयास किया। इस कालखंड में पुरुषसत्ता का विरोध ही मुख्य था। हिन्दी में हो रहे बहुसंख्यक स्त्रीवादी लेखन ने इसे ही अपना प्रेरणा मान लिया है। जिसे अधिकांश कहानियों-कविताओं में किसी मंत्र की तरह दुहराया जाता रहा है। स्त्री-विमर्श के तीसरे दौर का आरंभ पेट्रिशिया मेयर स्पेज्स की किताब से माना जाता है। स्पेज्स का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह रहा कि उन्होंने नारीवादी चिन्तन से 'शिशु केन्द्रीयता' को हटाकर स्त्री को, उसके सर्जक मन को, उसके सर्जकत्व को समझने की कोशिश की। स्पेज्स का यह कार्य नारीवादी चिन्तन में एक बड़ा 'यू टर्न' था। संज्ञा के अपर्याप्त लगने पर फ्रेंच में प्रयुक्त संज्ञा का अंग्रेजीकरण करके नई संज्ञाओं का प्रयोग किया। बाद में शोवाल्टर ने अपने लेखों के जरिए स्त्री देह का स्पेज्स पर प्रभाव बताकर पूर्व के बहुचर्चित 'इज्वेलिटी ऑफ सेज्सेस' को अस्वीकार कर 'पोलिटिक्स ऑफ डिफरेंस' जैसा रूपक गढ़ा। यह अवधारणा स्त्री-पुरुष के भेद की नींव पर रखी गयी थी। इस धारा ने यह माना कि गर्भधारण की क्षमता की वजह से स्त्री पुरुष से महत्वपूर्ण है इसीलिए उसका लेखन भी महत्वपूर्ण है। यह दौर स्त्री की आत्मचेतना को विकसित करने का था। यह पूर्व के कालखंड की तरह पुरुष केन्द्रित न होकर स्त्री केन्द्रित है। ये धारा मानती है कि स्त्री पुरुष से भिन्न है और उसे अपनी इस प्राकृतिक भिन्नता को लेकर कोई कुंठा नहीं है। इस दौर में स्त्री की अभिव्यक्ति और लेखन को स्थापित करने का प्रयास मुख्य था। इसे ही आत्मनिर्भरता प्रेरित चरण कहते हैं। इस स्थिति में आकर हाशिये के विमर्श अपना एक मूल्य स्थापित कर लेते हैं। यह स्थिति किसी भी विमर्श के लिए गौरवपूर्ण होती है।

पहले ही कहा गया है कि कविता की कहानियों में 'लाड्डनेस' नहीं है, तो इसका कारण है कि कविता स्त्रीवादी चिन्तन के 'सीमोन-काल' से आक्रान्त नहीं होती है। वे स्त्री विमर्श के 'उत्कर्ष-काल' के दौर की कहानियां लिखती हैं।

'लिव इन रिलेशन' या 'पुनर्विवाह' जैसे लोकप्रिय मुद्दों पर भी लिखते समय कविता बिल्कुल भिन्न दृष्टिकोण अपनाती है। कविता की अधिकांश कहानियां 'मैं' शैली में लिखी गयी हैं। उनका एक आत्मकथ्य 'मैंने मैं शैली अपनाई' चर्चित जलॉग 'जानकीपुल' पर शायद हुआ था। उसमें उन्होंने अपनी लेखकीय कसौटियों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'मेरी शुरुआती लगभग सभी कहानियां मैं शैली में लिखी गयी हैं। जाहिर है इन कहानियों में मैं हूँ, और मेरा जीवन भी.....और वे कहानियां नहीं हुई होती अगर मैं स्त्री नहीं होती। लिखना मेरे लिए यातना है, अपने को पाने की बेचैनी, उसे पकड़ पाने की विकलता। यथार्थ के प्रति आग्रह, जो बचपन से ही मेरी बुनावट में घुला हुआ है शायद और जिसमें वक्त के साथ आदर्श भी मिला है, मेरी कहानियों के शिल्प के आड़े आता रहा है। अधिकतर 'मैं' आकर घेर लेता है मेरी बृहज्जता। 'मैं' मुझे सीमाओं में बांध देता है। 'मैं' मेरे लेखन पर इल्जाम भी बना रहा। पर मैंने इस

मैं को बार-बार खुरचा, परखा, रचा और पुनर्सृजित किया है समाज की एक इकाई के रूप में, अपनी पीढ़ी के एक व्यक्ति के रूप में, आधी आबादी और उसके अनचीन्ही-अजानी पीढ़ियों की अभिव्यक्ति के रूप में। और इस क्रम में कई बार दूसरों के अनुभवों को भी मैं पहले 'मैं' की कसौटी पर परखती हूँ; एक लेखक के रूप में, उससे भी ज्यादा एक स्त्री के रूप में।

'लिव इन रिलेशन' हमारी पारम्परिक सामाजिक संरचना और सामाजिक मान्यताओं के समक्ष एक बड़ी चुनौती की तरह पेश आया। इस मुद्दे पर बहुत सी सार्थक कहानियां लिखी गयीं और लिखी जा रही हैं। 'लिव इन रिलेशन' को पारम्परिक पारिवारिक ढांचे और विवाह नामक संस्था की एक व्यापक आलोचना तथा विकल्प के तौर पर देखा गया। एक तरह से देखा जाय तो ये कहानियां 'लिव इन रिलेशन' में रहने के निर्णय, जद्दोजहद और संघर्ष पर लिखी गयी हैं। कविता 'लिव इन रिलेशन' में रहते हुए पात्रों की कहानी लिखती हैं। उस तथाकथित क्रान्तिकारी रिश्ते में आने के बाद उनके प्रति परिवार, रिश्तेदार और समाज के लोग किस तरह का व्यवहार करते हैं। 'लिव इन रिलेशन' की दूसरी कौन सी मुश्किलें हैं इन सब पर कविता बहुत ही विश्वसनीय ढंग से लिखती हैं। इस आशय की उनकी तीन कहानियां 'मेरी नाप के कपड़े', 'आशिया-ना' और 'भय' को देखा जा सकता है। इन तीनों कहानियों के सन्दर्भ में स्वयं कविता कहती हैं कि 'भय, मेरी नाप के कपड़े और आशिया-ना मेरे और मेरे भीतर बैठी स्त्री के मानसिक पारिवारिक और सामाजिक संघर्षों के ही तीन आयाम हैं। मैंने इन कहानियों में बतौर स्त्री 'लिव इन रिलेशन' को और आधुनिक जीवन पद्धति तथा परंपरागत विवाह संस्था के द्वंद्वों को अपने अनुभवों के आधार पर पकड़ने की कोशिश की है।' 'भय' कहानी में लिव इन रिलेशन में रह रही शालू को अपने पुरुष साथी सुधीर के विचलन का भय सताता है। उन दोनों के कमरे में एक अन्य लड़की जो सुधीर के भाई की मंगेतर है, कुछ दिनों के लिए रहने आ जाती है। शालू को इस बात का डर सता रहा है कि उसके काम पर जाने के बाद सुधीर और भाई के मंगेतर के बीच कहीं कुछ पक न रहा हो। यद्यपि शालू को अपने साथी पर विश्वास भी है पर वह भरोसे और भय के बीच झूल रही है। काम से वापस लौटकर अपने किराये के मकान की सीढ़ियां चढ़ते हुए, दरवाजा खट-खटाते हुए, दरवाजे के खुलने में लगती देरी से उसका मन भय से घिरने लगता है।

'लिव इन रिलेशन' परिवार की एक नई अवधारणा है। साहचर्य के इस नये सज्जन्ध ने स्त्री-पुरुष के बीच के पारम्परिक रिश्ते के ताने-बाने को झकझोर दिया। यह विवाह जैसी संस्था की अब तक की सबसे कठोर आलोचना है तो वहीं परिवार के बारे में हमारी समझ का विस्तार भी। जाहिर सी बात है कि इसके फायदे और मुश्किलें दोनों हैं। 'लिव इन रिलेशन' में रह रही युवा पीढ़ी किसी त्याग, समझौते या जिम्मेदारी से मुक्त बन्धनहीन जीवन जीना चाहती है। इसमें शादी की तरह न तो किसी के प्रति कोई दायित्व होता है और न ही अधिकार। दोनों अपनी-अपनी तरह से आजाद होते हैं और अपनी-अपनी जिम्मेदारियां निभाते हैं। विवाह के बन्धन से मुक्ति इस रिश्ते का सुख है तो 'पार्टनर' का कभी भी छोड़कर चले जाने का भय इस रिश्ते का दुःख। चूंकि वे विवाह नहीं करते, इसलिए एक-दूसरे के प्रति पति-पत्नी की तरह वचनबद्ध नहीं होते। एक साथ रहते हुए युवक-युवती मकान का किराया, खाने-पीने का खर्च आदि मिलकर उठाते हैं। इस तरह की चीजें साहचर्य को एक

यात्रिक अनुबंध में बदल देती हैं। तो फिर उस अनुबंध के टूटने का कैसा दुःख और कैसा भय? चूंकि यह दो मनुष्यों के सज्जन्धों का अनुबन्ध होता है इसीलिए इसके टूटने या टूटने का भय हमेशा बना रहता है। रिश्ता चाहे कोई हो उसके टूटने का सबसे ज्यादा दंश स्त्री को ही उठाना पड़ता है। कविता की कहानी 'भय' में इस रिश्ते में रह रही शालू इस भय से लगातार जूझती रहती है। सीढ़ियां चढ़ने के क्रम में पता नहीं कैसे फिर यह भय मेरे पीछे आ लगा। दिनभर का सोचा-समझा सारा पानी में। पर इसमें मेरा ज़्यादा दोष है। एक तो इतनी देर से दरवाजा खुला, उस पर सामने इतना अजीब दृश्य। मैं ज़्यादा कोई काठ-पत्थर की बनी हुई हूँ, इन्सान नहीं हूँ? शालू इस भय को नकारना भी चाहती है। वह सुधीर के पूर्व के व्यवहार और आचरण को यादकर उसे पाक-साफ मान लेना चाहती है। इन स्थितियों के लिए वह खुद से ही सवाल करती है, 'कितना अकूत विश्वास था। पर आज विश्वास की शिराएं ज्यों तनतनाने लगी हैं? दिमाग दिल पर काबू ज्यों नहीं कर पा रहा है? तर्कों के अर्थ ज्यों मिटते जा रहे हैं?' और फिर खुद ही इन सवालों के जवाब में कुछ संभावनाओं को टटोलती है, 'शायद हम दोनों ने शादी कर ली होती तो मेरे भीतर रह-रह कर यह भय नहीं कांपता। बढ़ती उम्र ने ही इस भय को और बढ़ाया होगा। हम पिछले कई वर्षों से साथ-साथ रह रहे हैं। मैं जानती हूँ कुछ लोग जलन और इर्ष्या से देखते हैं तो कुछ घृणा से। सज्जन्धियों-रिश्तेदारों द्वारा पीट पीछे किये जाने वाले अश्लील मजाकों से भी वाकिफ हूँ। कुछ मित्र अन्य परिचितों से हमारा परिचय करवाते हैं- 'लिव इन दुगेदर' उनके लिए बड़े साहस की बात है। वे कहते हैं- सड़ी-गली मान्यताएं टूटनी ही चाहिए, पर सिर्फ हम ही जानते हैं कि हम महान नहीं हैं.....सिर्फ मजबूर हैं.....और यह भी कि आम लोगों की तरह हमें कोई भी सामान्य नहीं समझता-लेता। कहीं मुझे औरों की तरह यह तो नहीं लगता कि सुधीर मुझसे शादी नहीं भी कर सकता है?' शालू इस तरह के जद्दोजहद में लगातार पड़ी रहती है। उसका भय एक स्त्री का भय है। यह वही भय है जिससे कोई भी स्त्री शायद ही कभी बरी हो पाती है। कविता ने इस कहानी का कथा सूत्र इतने सलीके से गुंथा है कि पढ़ते समय पाठक एक विश्वसनीय भावबोध तक पहुंच जाता है। पाठक और कहानी के पात्रों के बीच कोई नहीं होता। कहानी के पात्रों और पाठक के बीच एक सीधा रिश्ता कायम हो जाता है। यह बात किसी भी कहानी और कहानीकार के लिए उपलब्धि की तरह है। 'भय' कहानी में सुधीर के साथ 'लिव इन रिलेशन' में रह रही शालू को सुधीर के दूसरी स्त्री से सज्जन्ध बन जाने का भय है। वह अपने प्यार को किसी भी दृष्टि से बांटने को तैयार नहीं है। कविता के लिए यह बहुत आसान था कि वे इस कहानी में सीमोन-काल के बन्धन मुक्त उदार देह सज्जन्धों से प्रभावित होकर सुधीर और उसके घर में रहने आयी लड़की के सज्जन्ध को न्यायोचित ठहरा देतीं। लेकिन नहीं, 'इन्वेलिटी ऑफ सेक्स' का अर्थ कविता के यहां मुक्त देह सज्जन्ध नहीं है। रिश्तों में आदर और निष्ठा कविता के स्त्री की मांग है। कविता किसी विचारधारा से आक्रान्त नहीं होती बल्कि उसे अतिक्रमित करती है।

कविता की कहानियां 'लिव इन रिलेशन' को स्त्री-पुरुष के एक मानवीय लोकतंत्र की तरह बरतती हैं। यदि उसके उस मानवीय लोकतांत्रिक स्वभाव में कहीं खरोच लगती है तो उसे वे बखूबी दर्ज करती हैं। साथ ही स्त्री की स्वायत्तता के प्रति सचेत भी रहती हैं। रिश्ता कोई भी हो अपने अस्तित्व को पुरुष के अस्तित्व में घुला देना उनकी स्त्री को बर्दाश्त नहीं है। 'मेरी नाप के कपड़े' की कल्पना अपने जीवन में रवि के हस्तक्षेप से

खीझ कर कहती है, 'पुरुष कोई भी हो स्वामित्व और अधिकार जताएगा ही। मैं किसी की क्रीत दासी नहीं। न ही मजबूर हूँ किसी की हर बात मानने को। मैं तुझारी ज़्यादा भी नहीं हूँ। हमारा रिश्ता तो आपसी समझ और तालमेल पर आधारित है। एक-दूसरे की भावनाओं का सम्मान करते हुए एक साथ रह सकें तो अच्छा है वरना मैं अपनी राह और तुम अपनी राह।' 'मेरी नाप के कपड़े' कहानी कल्पना और रवि के 'लिव इन रिलेशन' में रहते हुए सामाजिक, पारिवारिक और आर्थिक संघर्षों की कहानी है। कल्पना को अपनी पसंद के कपड़े खरीदने-पहनने का शौक है। अर्थाभाव के कारण उसके इस शौक को लेकर रवि उससे बक-झक करता रहता है। परिवार के इच्छा के विरुद्ध रवि के साथ रहने का निर्णय उसका अपना है। पर एक अचानक के कार्यक्रम के तहत कल्पना का भाई आकर उसे घर ले जाता है। घर जाने की तैयारी में रवि का आग्रह और उदासी उसे परेशान करती है, 'मैं बिना कुछ बोले ऑटो में बैठ चुकी हूँ। पर न जाने ज्यों लगता है जैसे रवि को आखिरी बार देख रही हूँ। मैं चिल्लाना चाहती हूँ.....रवि मुझे रोक लो, मैं नहीं जाना चाहती। पर ऑटो आगे बढ़ जाता है।' कल्पना रवि के साथ खीझती तो रहती है पर उसके साथ रहना उसका सचेत चयन है। इसलिए उसे यूँ अचानक छोड़ कर जाते समय वह दुःखी है। घर पहुंचने पर उसे पता चलता है कि वहां उसकी शादी की तैयारी चल रही है। शादी को लेकर उसके घर वाले उस पर तरह-तरह से दबाव डालते हैं। मां और बहन का दबाव तो उनकी पारस्परिक भूमिका के अनुसार है पर नहीं भतीजी मनीषा उससे कहती है कि 'मेरा भाई अगर किसी लूले-लंगड़े से भी मेरी शादी तय कर दे तो मैं ना नहीं करूंगी.....।' यहां यह देखना रोचक है कि शालू के मसले पर परिवार की छोटी लड़की मनीषा के विचार वही हैं जो आम तौर पर पितृसत्तात्मक समाज बोलता और सोचता है। नैतिकता, परजपरा और प्रतिष्ठा के नाम पर पितृसत्तात्मक समाज स्त्रियों को तो शासित-उत्पीड़ित करता ही है साथ ही वह उनकी सोच-समझ की क्षमता को अनुकूलित भी कर लेता है। कहानियों के पात्रों की चेतना और उनके सामाजिक अस्तित्व में एक खास तरह की पारस्परिकता दिखाने में कविता को जैसे सिद्धि प्राप्त है। व्यक्ति की चेतना के निर्माण में उसके सामाजिक अस्तित्व का बड़ा योगदान होता है। इसके लिए 'ए कन्ट्रिब्यूशन टू द क्रिटिक ऑफ पॉलिटिकल इकोनॉमी (1859)' की भूमिका से कार्ल मार्क्स के इस कथन को देखा जा सकता है। जिसमें मार्क्स ने कहा है कि 'मनुष्य सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में विशेष सज्जन्ध कायम करता है, जो अनिवार्य होते हैं और उसकी इच्छा से स्वतंत्र भी। ये उत्पादन सज्जन्ध भौतिक उत्पादन शक्तियों के विकास की अवस्था से भी संबंधित होते हैं। ये अधिरचनाएं ही सामाजिक चेतना के विशिष्ट स्वरूप के निर्धारण से जुड़ी होती हैं। भौतिक जीवन में उत्पादन की पद्धति ही सामान्यतः सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक प्रक्रियाओं को निर्धारित करती है। मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती बल्कि उसका सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निर्धारण करता है।' ठीक इसी तरह मनीषा का अस्तित्व जिस पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना में निर्मित हुआ है उन्हीं पितृसत्तात्मक मूल्यों के तहत उसकी चेतना का भी निर्माण हुआ है। कविता यदि पितृसत्तात्मक मूल्यों के विरुद्ध स्त्री के लोकतांत्रिक सपने के लिए लड़ रही हैं तो उनकी निगाह में पितृसत्तात्मक समाज के सभी छल-कपट हैं। जिसके द्वारा वो स्त्री को उत्पीड़ित तो करता ही है साथ ही उसकी चेतना का अनुकूलन भी करता चलता है। कपड़ों के शौक को लेकर रवि के रोक-टोक की प्रतिक्रिया में कल्पना भाई के साथ अपने घर तो आ जाती है पर घर का रवैया उसे पुनः रवि की ओर ढकेलने लगता है- 'मैं चाहती हूँ यह

याद करूँ कि रवि मुझ पर अपनी इच्छाएं लादता है, मुझसे लड़ता है, मुझ पर गुस्साता है। चाहती हूँ सोचूँ कि जो हो रहा है, अच्छा ही हो रहा है, मैं भी तो उसकी कैद से मुक्ति ही चाह रही थी। पर ऐसा कुछ भी नहीं याद आता, ऐसा कुछ भी नहीं सोच पाती। रवि का उदास चेहरा बार-बार मेरी आंखों के आगे आता है—कोई जरूरत हो, मुश्किल हो तो तुरन्त फ़ोन करना।' इसी याद के जोर और खिंचाव में कल्पना अपने माता-पिता का घर छोड़कर अपने घर वापस आ जाती है। उस घर में जिसका निर्माण उसकी बराबर की भागीदारी से हुआ है। कविता को निर्णायक स्थितियाँ पसंद हैं। उन्होंने अपनी इसी पसंदगी की आंच से अपनी कहानियों के पात्रों का शृंगार किया है। वैसे भी जो समाज अपनी युवा-पीढ़ी को अपनी जिंदगी के बारे में बुनियादी फैसले लेने तक की इजाजत नहीं देता, जहाँ परिवार में पुरानी पीढ़ी और पुरुषों का निरंकुश स्वेच्छाचारी अधिनायकत्व आज भी प्रभावी है, जिस समाज के मानस पर रूढ़ियों-परम्पराओं की ऑक्टोपसी जकड़ कायम है, वह समाज बुर्जुवा समाज के सभी अन्याय-अत्याचार को और बुर्जुवा राज्य के बर्चस्व को स्वीकारने के लिए अभिशप्त है।' दूसरे यह कि कविता पारम्परिक बुर्जुवा समाज के उस तथाकथित नैतिकता को भी कटघरे में खड़ा करती है।

कविता की एक और महत्वपूर्ण कहानी 'आशिया-ना' है, जो इस रिश्ते की एक खास व्यावहारिक समस्या पर लिखी गयी है। सीमा और मुकुल 'लिव इन रिलेशन' में हैं। उनके सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि वे पति-पत्नी नहीं इसलिए उनको शहर में मकान नहीं मिलता। इसके लिए वे अपने दूसरे दोस्तों के साथ घर 'शेयर' करते हैं। फिर दोस्तों के साथ भी अन्य दूसरी किस्म की समस्याएं। वे मकान बदलते रहते हैं। कभी मकान मिलता भी है तो जैसे ही मकान मालिक को पता चलता है कि बिना विवाह किये साथ रह रहे हैं तो वे कुछ न कुछ बहाना कर उनसे मकान खाली करा लेते हैं। अपनी इस बेवसी पर मुकुल कहता है कि 'सीमा, पूरे सात मकान देख चुका। छुट्टी लिए भी पूरे पांच दिन बीत गये पर बात कहीं नहीं बनी। जैसे ही सुनते हैं हम पति-पत्नी नहीं टाल जाते हैं.....दुबारा पूछने जाओ तो बच्चों से कहलवा देंगे-पापा अभी घर पर नहीं हैं।' मुकुल की यह हताशा 'लिव इन रिलेशन' के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण की उपज है। आखिर में वे हिज्रत कर खुद को पति-पत्नी की तरह पेशकर एक मकान लेते हैं। सब कुछ शायद अब ठीक हो इसकी उम्मीद है। पर एक दिन अचानक मुकुल के चाचा आकर सारा खेल बिगाड़ देते हैं। वे खुद तो इस रिश्ते को बुरा मानते ही हैं, मकान मालिक को भी इनका सच बता देते हैं। सीमा हताश है—'ज्या उसने यही सब चाहा था....हर बन्धन से परे मन की गहराइयों से जुड़े इस रिश्ते की यह छीछालेदर....कल वह कौन सा मुंह लेकर बाहर निकलेगी, कैसे जाएगी सबके सामने...? खुले आकाश में चाहे लाख विचारा जाए पर थककर लौटने के लिए ज्या घोंसले की ही जरूरत होती है....? दो वर्ष...और...तेरह मकान.... तमाम जिल्लें....ज्या यही है उसके तलाश की मंजिल...? तो ज्या थक चुकी है वह, भागते-भागते...उसके कदमों में छले पड़ गये हैं....उसे घर चाहिए....अपने सपनों का घर... जिसकी हमेशा से उसे तलाश रही है...।' कविता 'लिव इन रिलेशन' और इसके बाद के जीवन को बहुत ही विश्वसनीयता के साथ सामने लाती है। इस सिलसिले की उनकी इन तीनों कहानियों 'भय', 'मेरी नाप के कपड़े' और 'आशिया-ना' के कथ्य, समस्याओं और पात्रों को एक साथ रखकर देखा जाय तो 'लिव इन रिलेशन' के सामाजिक, आर्थिक सभी पहलुओं को देखा समझा जा सकता है।

कविता की कहानियों में स्त्रियाँ हैं या कहें कि ये स्त्रियों की कहानियाँ हैं। कविता की स्त्रियों के यहां अपने लिए एक मुकज्मल जहां के सपने हैं, उन सपनों को पूरा करने की जिद भी है। लेकिन उनकी कहानियों की स्त्रियाँ संघर्ष तो करती हैं पर किसी तरह की नारेबाजी की शिकार नहीं होतीं। इस दृष्टि से 'नीमिया तले डोला रख दे मुसाफिर' और 'उलटबांसी' महत्वपूर्ण कहानियाँ हैं। बढ़ती उम्र के साथ हमारे घर के वरिष्ठ जन परिवार के अन्य लोगों के लिए गैरजरूरी हो जाते हैं। और अपने ही अकेलेपन में गुमसुम जीते और उसी में चले जाते हैं। 'नीमिया तले डोला रख दे मुसाफिर' कहानी की मां समय के साथ उसी परिवार में जिसको वो आज तक पालती-पोसती रही, अकेली पड़ती जाती है। मां के माध्यम से छीजती पारिवारिक संवेदना की कहानी है। जिसको पढ़ते हुए प्रेमचंद की 'बूढ़ी काकी' और भीष्म साहनी की कहानी 'चीफ की दावत' की याद आती है। 'नीमिया तले डोला रख दे मुसाफिर' बूढ़ी हो रही मां के अकेलेपन की कहानी तो है ही साथ ही मां-बेटी के बीच के संवेदनात्मक जुड़ाव की भी कहानी है। एक भरे-पूरे घर में पूरी जिन्दगी खटती-पिसती मां की मृत्यु के बाद घर के लोगों को उसकी हर स्मृति और उपस्थिति को मिटा देने की हड़बड़ी है। इसकी शुरुआत मां के रहते ही हो गयी थी। मां की मृत्यु के बाद भाभी जो गृहस्वामिनी के नये ओहदे पर आसीन हुई हैं, वो मां के बाद मां से जुड़ी हुई प्रत्येक चीज को कबाड़ घोषित कर कबाड़ी को बेच रही हैं। पर मसला जाते पर आकर अटक जाता है। यह वही जाता है जिस पर मां उम्रभर घर के लिए सारे स्वाद रचती-सिरजती रही। पर मां के बाद घर ने अपने स्वाद के मजहब बदल लिए हैं। मां का वह जाता अब किसी के काम का नहीं है, कबाड़ी के भी काम का नहीं। घर वालों के लिए अब मां और पत्थर के उस जांते में कोई फर्क नहीं है। ऐसे में मां की स्मृतियों की आखिरी पनाहगाह पुत्री ही होती है। कबाड़ी बिना कुछ पैसा दिये वो जाता ले जाता है और जांते का मूठ बेटी ले लेती है। उस मूठ को जिसमें अभी तक मां की हथेलियों की गर्माहट बसी हुई है। कथा नायिका 'मैं' को याद है कि वो जांता मां की दादी का था। दादी से मां और मां से बेटी तक की यात्रा में अब बस लकड़ी का मूठ बचा हुआ है। मूठ का बच जाना कहीं न कहीं मूल्यों का बचना है। घर की ब्राम्हण समृद्धि के बावजूद मां जांता चलाती रहती थी। घर के लड़के किशोर को वह जांता हमेशा अपने स्टेस के खिलाफ लगा। वो अजसर उस जांते को बन्द कराने का दबाव भी बनाता रहता है, 'मां इसे उखाड़ फेंको। मेरे दोस्त मुझे जतिवाले घर का लड़का कहकर मेरा मजाक उड़ाते हैं।.....लोग कहते हैं कि इतने बड़े अफसर की बीबी घर में चक्की चलाये, जरूर दारू-शराब पीता होगा जो घर में पैसों की कमी रहती है।' मां का कोई बस नहीं है, किसी पर। वह जांते को आंगन से हटाकर स्टोर में लेकर चली गयी। मां और उस जांते के ताने-बाने से किसी को कोई मतलब नहीं था। वो अपने नितान्त अकेले में सिमटती जा रही थी। मां के उस नितान्त अंधेरे में आखिरकार बेटी कथा नायिका 'मैं' प्रवेश करती है, 'मैं' चौंके तक पहुँची थी कि जैसे किसी की उपस्थिति जान, सहमकर चक्की की घर्-घर् बन्द हो चली थी; साथ में मां का पिघलता स्वर भी। मां की दृष्टि में मुझे देखकर एक राहत का भाव उभर आया था—तू है रे, मैं तो सोच रही थी क्रिकेट मैच से किशोर लौट आया। इसी से भय लगा। तू ही बता, मैं सारा दिन ज्या करूँ! तू होस्टल, किशोर अपनी पढ़ाई, खेल और दोस्तों में डूबा रहता है। तेरे पिताजी को अब घर के लिए फुर्सत ही कहाँ है। मेरा वक्त कैसे कटेगा, यह कौन सोचता? मैंने मां के कन्धे पर अपनी संवेदना-भरी हथेली रखी ही थी कि वह फूट-फूटकर रो पड़ी।

पूरी जिन्दगी में उन्हें पहली बार इस तरह रोते पाया।' कथा-नायिका 'मैं' मां के हर दुःख में शामिल है। इसीलिए मां के नहीं रहने पर जाति के मूठ को संभाल कर रख लेती है।

जाति के प्रति आग्रह पारंपरिक मूल्यों के प्रति लगाव भी है। उपयोगितावादी प्रवृत्तियों के लिए हाड़-मांस की मां और पत्थर के उस जाति में कोई फर्क नहीं है। बदलते घर के लिए दोनों गैरजरूरी हैं। पर दोनों को संभालती-सहेजती है स्त्री। आखिरकार स्त्रियों के अलावा पुष्पनी दीवार को अपनी पीठ कौन देता है। घर से जाता का निकाला जाना केवल पत्थर के वस्तु का निष्कासन नहीं है। जाति के साथ निकल लायेंगे जातिसार के सारे गीत। उन गीतों के खात्मे के साथ टूट जायेगा स्त्रियों के सुख-दुःख के अभिव्यक्ति का माध्यम भी। जाता, जातिसार के गीत और उसके इर्द-गिर्द स्त्रियों का जुटन स्त्री का प्राचीन 'पज्जलक स्फेयर' था। कविता ने बड़ी बारिकी से स्त्रियों के उस पारंपरिक 'पज्जलक स्फेयर' के खत्म होते जाने की भी कथा कही है।

'नीमिया तले डोला....' की मां उग्रभर अकेलेपन के जिस अंधेरे में घिरती रही उसी अंधेरे में बेआवाज चली भी गयी। लेकिन वह अंधेरा कथा-नायिका 'मैं' के भीतर या कहें कि कथा-लेखिका कविता के भीतर बना रहा। वो अंधेरा टूटता है कविता की 'उलटबांसी' कहानी में। 'नीमिया तले डोला.....' की 'मैं' मां के अंधेरे में प्रवेश नहीं कर पाती पर 'उलटबांसी' कहानी की 'मैं' मां के लिए उसके चुने हुए उजाले में बराबर की साझीदार बनते हुए मां के पुनर्विवाह के निर्णय के साथ खड़ी होती है। इस कहानी को सामाजिक विकास के साथ-साथ एक लेखिका के तौर पर कविता के सोच-समझ के विकास के रूप में देखी जानी चाहिए। स्वयं कविता अपने आत्मकथ्य में कहती हैं कि 'नीमिया तले डोला रख दे मुसाफिर' के लगभग सात वर्षों बाद 'उलटबांसी' की रचना करवाई। 'नीमिया तले डोला रख दे मुसाफिर' की मां-बेटी को जैसे इस कहानी में विस्तार मिल गया था। लेकिन यह सिर्फ कथ्य की ही नहीं मेरे कथाकार की भी विकासयात्रा थी और मेरे भीतर बैठी स्त्री की भी। 'उलटबांसी' कहानी का कथ्य मां की कहानी है किन्तु मां की पारंपरिक छवि से उलट एक नई छवि प्रस्तुत करती है। इसीलिए यह कहानी हमारी समस्त नैतिकताओं को कटघरे में खड़ा करते हुए हमें हैरान कर देती है। 'उलटबांसी' कहानी की प्रौढ़ मां अपनी सूनी जिन्दगी और अपने अकेलेपन से ऊबकर पुनर्विवाह का निर्णय लेती है। उसके बेटे-बहू, दामाद सभी इस निर्णय का विरोध करते हैं पर कथा-नायिका 'मैं' यानी अपूर्वा और उसकी भतीजी निशा मां के इस निर्णय में उसके साथ खड़े होते हैं। अपूर्वा कहती है कि 'अगर मां शादी कर रही है तो वह अपने अकेलेपन से ऊबकर, देह की भूख से हारकर नहीं भैया। फिर सिर उठाकर जी न सकने की बात कहां से आयी? जो स्वप्न हम सबने पाले, मां ने सबका सपना पूरा किया। हमारे हर निर्णय में वह हमारे साथ खड़ी रही, और आज जब वह बिलकुल अकेली पड़ गयी हैं हमसे कोई शिकायत न करते हुए उन्होंने बस एक छोटी सी इच्छा जाहिर की है और हम सब इसी में उबले हुए हैं।' मां का दुःख और अकेलापन एक स्त्री का दुःख और अकेलापन है। जाहिर सी बात है कि उसे एक स्त्री के अलावा कोई समझ नहीं सकता। इस पितृसत्तात्मक समाज ने स्त्री के यौन-संबंधी कायदों और नियमों का फतवा भी जारी किया था। वह यह कि जाति और विधवा पुनर्विवाह के बीच के संबंध के साथ-साथ सभी स्त्रियों के यौन संबंधी आचरण की

निगरानी भी उसके लिए गंभीर मायने रखता था। 'उलटबांसी' कहानी में मां के पुनर्विवाह का निर्णय पितृसत्तात्मक समाज के नियमों-कायदों और इजारेदारी को खुली चुनौती है। कथा-नायिका 'मैं' पितृसत्तात्मक समाज के द्वारा आरोपित मूल्यों को मानने से इन्कार कर देती है। उसे मां के निर्णय में कुछ भी अस्वाभाविक नहीं लगता- 'जब धरती-आकाश, ग्रह-नक्षत्र सब घूमते रहते हैं अपनी धुरी पर। नदियां बदलती रहती हैं अपना रास्ता, फिर मां से ही अथाह धीरज की अपेक्षा ज्यों? मां ही ज्यों थमी रहे आजीवन उसी मोड़ पर जिसकी चाहत उसको नहीं थी। हम सब तो चल दिये थे अपनी-अपनी जिन्दगी में, फिर मां ज्यों अटल-अडिग भाव से प्रतिक्षारत रहे हमारे लिए।.... मां पर्वत नहीं थी और पर्वत भी तो फटता-छीजता है समय के साथ-साथ। हम भले ही भूल चुके थे यह सच, पर आदिम सुख-दुःख, भय-पीड़ा, वितृष्णा-क्रोध उसे भी व्यापते थे। फिर भी हम सबने चाहा था, मां अडिग बनी रहे पर्वत की तरह।' एक खास बात और कि मां के निर्णय में कथा-नायिका के साथ उसकी भतीजी निशा (अपने पिता से विद्रोहकर) खड़ी है। 'निशा ने उनके कंधे पर सिर रख दिया है, मैंने उनकी कलाईयां अपने हाथों में ले ली हैं। अब हम तीन पीढ़ी की औरतें नहीं। दादी, बुआ और पोती तो बिलकुल नहीं, बस तीन स्त्रियां हैं, तीन बहनें या फिर तीन सहेलियां।' निशा ने दादी का साथ देकर अपना पक्ष स्पष्ट कर दिया है। इस तथ्य को युवा पीढ़ी के सोच-समझ में आये बदलाव के रूप में भी रेखांकित किया जा सकता है। जैसे 'मेरी नाप के कपड़े' की मनीषा 'उलटबांसी' की निशा के रूप में बड़ी हो गयी हो। लेखिका के ही शब्दों में कहें तो 'औरत कब बड़ी हो जाती है, कौन जान पाया है?' यह लेखिका, चेतना, कहानी और पात्रों का समवेत विकास है।

'नीमिया तले डोला.....' और 'उलटबांसी' में बेटियां मां के निर्णय में मां के साथ खड़ी हैं तो वहीं 'पत्थर, माटी, दूब' और 'लौट आना ली' जैसी कहानियों में मां बेटियों के निर्णय में उनका साथ देती हैं। 'पत्थर, माटी, दूब' की नायिका अपने स्वर्गीय पिता की सौंपी गयी आकाक्षाओं और जिप्सेदारियों में इस कदर डूब जाती है कि उसके जीवन में विवाह जैसा प्रसंग आता ही नहीं। पर प्रेम आता है और अपने निशान छोड़ जाता है। प्रेमी को अपने जीवन से विदा कर वह कुंवारी मां बनने का निर्णय लेती है और एक बच्ची को जन्म देती है। हमेशा इस बात पर रोने वाली उसकी मां कि 'काश उसे इस बेटे की जगह बेटा हुआ होता' बेटे के कुंवारी मां बनने के निर्णय में सबसे बड़ा सहारा बनती है। मां के इसी भरोसे के बलपर कथा-नायिका 'मैं' सामाजिक, मानसिक और आर्थिक मुश्किलों को पार कर जाती है। तो वहीं 'लौट आना ली' की लीजा के जिन्दगी के सबसे मुश्किल समय में उसकी सास उसके निर्णय के साथ खड़ी होती है। लीजा कथा-नायिका 'मैं' के एकलौते बेटे की विजातीय बहू है। सास बहू को पसन्द नहीं करती। कारण कि उसके तमाम अरमानों पर पानी फेरते हुए उसके बेटे देव ने ली से शादी कर लिया था। लेकिन वही देव लीजा के जीवन से खुद को पूरी तरह काट लेता है। लीजा के अन्दर की स्वाभिमानि स्त्री को किसी का आश्रय स्वीकार नहीं है। वह अपने पति का घर छोड़कर चली आती है। वह नौकरी करना चाहती है इसलिए अपने गर्भ में पल रहे बच्चे को गिराने का निर्णय लेती है। जाहिर सी बात है कि बच्चा गिराने का उसका निर्णय उसके जीवन का कठिनतम निर्णय है। 'मां तीन माह से पहले गर्भ में कोई जीवन नहीं होता न? वह मांस और खून का लोथड़ा भर होता है, है न मां? हिचकियां टूट रही हैं

उसकी। वह आश्वस्ति चाहती है, मुझसे हिजमत भी।.....मां, मैंने गलत निर्णय तो नहीं लिया न? मैं अपने आप से लड़ती हुई कहती हूँ, नहीं। उसे इस वक्त भीतर से कमजोर नहीं होना चाहिए।' यह वही सास है जो लीजा के साथ रहते हुए उससे हमेशा एक शीतयुद्ध लड़ती रही कि लीजा ने उससे उसके एकलौता बेटे को दूर कर दिया। इन दोनों कहानियों के इस चौंकाने वाले कथ्य के प्रति कविता ने लिखा है कि 'ये दोनों परिस्थितियाँ कोई असंभव या कौतुक रचने की कोशिश नहीं होकर स्त्रियों के जीवन में धीरे-धीरे बदल रहा वह 'बहुत कुछ' है जिसका सपना एक अथाह पीड़ा के साथ हर एक स्त्री की आँखों में कब से पल रहा है। मैंने एक स्त्री लेखक के रूप में उन सारी स्त्रियों को अपने 'मैं' में आत्मसात करने की कोशिश भर की है। ऐसा हो भी क्यों नहीं, हम स्त्रियों के दुःख एक से ही तो हैं....जो मेरा है वह सबका है और जो सबका है वही मेरा भी।' कविता अपनी कहानियों में स्त्री की 'स्टीरियोटाइप इमेज' को लगातार तोड़ती हैं। 'पत्थर, माटी, दूब' की मां अपनी स्वाभाविक भूमिका से भिन्न बेटी के अनज्याही मां बनने के निर्णय के साथ है तो 'लौट आना ली' की सास अपने बेटे के विमुख हो जाने के बावजूद अपनी बहू जिसको वह पसन्द नहीं करती थी, के 'एबार्शन' के फैसले में साथ खड़ी होती है। कविता रितों से परे स्त्रियों का एक अद्भुत स्वायत्त संसार रचती हैं जिसका नियामक कोई पुरुष नहीं है।

'सुख' और 'नदी जो अब भी बहती है' ये कहानियाँ कविता की ही नहीं स्त्रीवादी लेखन की चरम उपलब्धियाँ हैं। कविता की स्त्रियाँ मां के साथ खड़ी ही नहीं होती बल्कि मातृत्व को स्त्री जीवन में गरिमामयी उपस्थिति के तौर पर बरतती हैं। 'सुख' कहानी की मुख्य स्त्रीपात्र अपने प्रेमी के साथ विवाह के इन्तजार में बैठी अकेली कामकाजी युवती है। उन्हें शादी के लिए लड़के की बहन के विवाह तक इन्तजार करना पड़ रहा है। अपने अकेलेपन से निजात पाने के लिए वह शाम के समय पार्क में खेलते बच्चों को देखती और अपने बच्चे की कामना से भरती रहती है- 'कोई स्वप्न....बच्ची मेरी तरफ बढ़ी आ रही है, उसी तरह खिलखिलाती....मैं अनदेखी कर बढ़ना चाहती हूँ। किसी ने पीछे से उंगलियाँ थाम लीं....उफ ये सुख....मैं मुड़ना नहीं चाहती। जैसे मुड़ते ही यह सुख खो जाएगा।' बच्चे और मातृत्व की कामना की यह एक अद्भुत कहानी है। तो वहीं 'नदी जो अब भी बहती है' 'कंज्वाइंट ट्विंस' की मुश्किलों और मातृत्व की 'रेयर' कहानी है। हिन्दी कथा साहित्य में जहाँ तक मुझे याद है 'कंज्वाइंट ट्विंस' विषय पर लिखी गयी यह पहली कहानी है। 'कंज्वाइंट ट्विंस' जिनका देह कहीं न कहीं से आपस में जुड़ा रहता है। कथा-नायिका 'मैं' के गर्भ में जो बच्चा है उसका देह तो एक है पर सिर दो हैं। यह असामान्य बच्चा कथा-नायिका 'मैं' के सामान्य जीवन और मातृत्व की संवेदना को अस्त-व्यस्त कर देता है। सब कुछ बहुत मुश्किल होता जा रहा है। रोचक है यह देखना कि इस मुद्दे पर भी कथा-नायिका की मां फोन कर ढाँढस बढ़ाती है। 'माई का मन मान गया है, इस दो सिर वाले बच्चे के लिए, उन्होंने तैयार कर लिया है खुद को। मैं हैरत में हूँ। घर के कामकाज में सनक की हद तक पूर्णता और

सफाई चाहने वाली माई एक अपूर्ण बच्चे के पैदा होने की कामना कर रही हैं।' मेडिकल साइंस के अनुसार 'कंज्वाइंट ट्विंस' सबसे जटिल केस होता है। अब वह जटिलता कथा-नायिका 'मैं' के जीवन में उतर आया है। कथा-नायिका 'मैं' के साथ माई और पति नील का समर्थन प्राप्त है। वह जैसा भी है जो भी है उस 'कंज्वाइंट ट्विंस' को इस दुनिया में लाने के लिए तैयार हो जाती है। किन्तु वह बच्चा नहीं बचता है। बच्चे के बाद उसके प्रति लगाव और ममत्व के चलते कथा-नायिका 'मैं' की विक्षिप्तता हमें अन्दर तक हिला देती है। इस अनछुये और जटिल विषय के साथ कविता ने लेखकीय और मानवीय दोनों स्तरों पर न्याय किया है। यह कहानी 'नार्मल' और 'एबनार्मल' के बहस को भी एक नई दिशा देती है। एक ऐसे समय में जब 'विकी डोनर' जैसी फिल्में बन रहीं हैं और पसन्द की जा रही हैं। जो सर्वश्रेष्ठ बच्चे की कामना का एक जुगुप्साजन्य मध्यवर्गीय आख्यान है। ऐसे में कविता ने 'कंज्वाइंट ट्विंस' के प्रति ममत्व की एक अद्वितीय कथा कही है।

यहाँ ध्यान देने की बात है कि स्त्रियों के प्रति कविता का यह 'एप्रोच' और नजरिया सीमोन-काल की 'रेडिकल फेमीनिज्म' की आक्रामकता से आगे बढ़कर 'फीमेल गाइनोसैट्रिक काल खंड' से जुड़ता है या बनता है। जिसमें स्त्रीवाद के नाम पर कोई अतिवाद या 'लोकप्रिय' किस्म के मसाले नहीं हैं। कविता के यहाँ पुरुष केवल पापी ही नहीं है कि उसे दंडित करना ही स्त्रीवाद का मुख्य उद्देश्य हो बल्कि उनकी कहानियों में पुरुषों को भी प्रयास 'स्पेस' मिलता है। कविता की चेतना 'फीमेल गाइनोसैट्रिक' के दौर की है इसलिए उनकी कहानियों में पुरुष की भूमिका सिर्फ स्याह-सफेद में विभाजित नहीं है। उनकी कहानियों में पुरुष केवल परपीड़क नहीं है वह एक सहचर और दोस्त भी है। 'नदी जो अब भी बहती है' का नील, 'भय' का सुधीर, 'मेरी नाप के कपड़े' का रवि, 'आईना हूँ मैं' के हेमन्त और बसन्त, 'नीमिया तले डोला.....' का राजीव ये सभी कविता के द्वारा सृजित अभिनव पुरुष पात्र हैं। उनकी कहानियाँ स्त्री के लिए, स्त्री के द्वारा, स्त्री की विश्वसनीय गाथा हैं। कविता की कहानियाँ स्त्री के वस्तु से विषय होने के आत्मसंघर्ष की कहानियाँ हैं।

सम्पर्क : आशुतोष

हिन्दी विभाग

डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.) 47003

ईमेल —

prominentashu786@gmail.com
mobile-09479398591